

नार्को जांच: एक खतरनाक मरीचिका

पुलिस बढ़ते क्रम में नार्को जांच का सहारा ले रही है और अदालतें उसे स्वीकार कर रही हैं। तथ्य यह है कि यह जांच भरोसेमंद नहीं है। इसके ज़रिए निर्दोष व्यक्ति से मिथ्या इकबालिया बयान हासिल किए जा सकते हैं। **दक्षिण एशिया मानव अधिकार दस्तावेजीकरण केंद्र** की एक रिपोर्ट...

थर्ड डिग्री का उपयोग करके पूछताछ करने की बजाय नार्को जांच को ज़्यादा वैज्ञानिक व सहनीय तरीका मानकर पुलिस इसका उपयोग बढ़ते क्रम में कर रही है। मगर इसे अपराध विज्ञान का एक स्वागत योग्य व मानवीय कदम मानने से पहले ज़रूरी है कि इसके विवादास्पद अतीत पर गौर किया जाए और देखा जाए कि कैसे यह व्यक्ति को स्वयं के खिलाफ गवाही न देने के अधिकार व प्रायवेसी के अधिकार से वंचित करती है और कानून की उचित प्रक्रिया के पालन में बाधा बन जाती है।

नार्को जांच वह तरीका है जिसमें व्यक्ति को बार्बिट्यूरेट्स का इंजेक्शन दिया जाता है। यह अक्सर कुछ दवाइयों का मिश्रण होता है जिसे 'सत्य आसव' कहते हैं। इससे व्यक्ति में असंबद्धता की स्थिति निर्मित हो जाती है। कहते हैं कि ऐसी अर्ध चेतन अवस्था में व्यक्ति के दबे हुए जज़्बात, विचार और आदतें मुक्त हो जाती हैं और पूछताछ में मदद मिलती है। आदर्श रूप में नार्को जांच किसी अस्पताल में मनोविश्लेषक व निश्चेतन विशेषज्ञ की उपस्थिति में की जाती है। इसमें पूछताछ का काम मनोविश्लेषक के ज़िम्मे होता है।

अक्सर कहा जाता है कि यह निहायत आधुनिक विज्ञान का हिस्सा है। पिछले कुछ वर्षों में इसका काफी उपयोग किया गया है। मसलन बेंगलोर फॉरेंसिक साइन्स लैबोरेटरी सन 2000 से ऐसी जांच कर रही है। जून 2002 में गोधरा कांड के 7 अभियुक्तों पर, दिसंबर 2003 में अब्दुल करीम तेलगी पर तथा अभी हाल में निठारी कांड के अभियुक्तों पर यह जांच की गई।

सीधी सी बात यह है कि नार्को जांच अविश्वसनीय है। यह बात कई दशकों से पता है। 1940 व 1950 के दशकों में यू.एस. और यू.के. में की गई समीक्षाओं से

नार्को जांच की खामियां सामने आई थीं। पहली खामी तो यह दिखी थी कि 'सत्य आसव' का इंजेक्शन लगाकर पूछताछ करना ऐसे आरोपियों पर बेकार साबित होता है जो झूठ बोलने पर आमादा हैं। एक समीक्षक के मुताबिक कई आरोपी बार्बिट्यूरेट के प्रभाव में जानबूझकर तथ्य छिपाते हैं।

दूसरी, और ज़्यादा खतरनाक समस्या यह है कि निर्दोष व्यक्तियों से झूठे इकबालिया बयान प्राप्त होने का खतरा होता है। ऐसी दवाइयों के प्रभाव में व्यक्ति ऐसी अवस्था में होता है कि वह कोई भी बात मान ले। ऐसे में यदि गलत ढंग से सवाल पूछे जाएं तो वह गलत या भ्रामक जवाब दे सकता है। इस जांच के कई समर्थक भी स्वीकार करते हैं कि गलत ढंग से पूछा गया सवाल मासूम व्यक्ति को अपराध कबूल करने को उकसा सकता है। इसलिए जब तक अन्य प्रमाण उपलब्ध न हों, तब तक नार्को जांच के नतीजे विवादास्पद ही होते हैं।

बदकिस्मती से भारत में कुछ अदालतों ने नार्को जांच की इन जानी-मानी खामियों व सीमाओं पर पूरा ध्यान नहीं दिया है और यह फैसला दिया है कि चूंकि यह जांच 'वैज्ञानिक' है तथा 'विशेषज्ञों' की उपस्थिति में की जाती है, इसलिए मान्य है।

संवैधानिक संकट

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 20 (3) में कहा गया है कि "किसी अपराध के आरोपी व्यक्ति को स्वयं के विरुद्ध गवाही देने को विवश नहीं किया जाएगा।" यह अनुच्छेद गवाही देने की बाध्यता के विरुद्ध एक सुरक्षा का काम करता है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 161(2) भी आरोपी को

इसी तरह की सुरक्षा प्रदान करती है। कोई भी व्यक्ति “सारे प्रश्नों के सही जवाब देने को बाध्य है” सिवाय उन प्रश्नों के “जो उसे किसी अपराध के आरोप या दण्ड या जब्ती के भागीदार बनाते हों।” यह सुरक्षा उन व्यक्तियों को भी उपलब्ध है जिन पर कोई आरोप लग चुका हो या जिन पर कोई आरोप न हो।

‘गवाह होने’ का मतलब सर्वोच्च न्यायालय ने यह बताया है: “अदालत अथवा अन्यत्र मौखिक या लिखित बयान के द्वारा प्रासंगिक तथ्यों का ज्ञान उपलब्ध कराना।” यह भी कहा गया है कि ‘अंगूठा निशान’ या पहचान के लिए अन्य कोई सबूत देना खुद के विरुद्ध गवाही नहीं माना जाएगा क्योंकि यह कोई बयान नहीं है और ऐसे नमूने गवाही नहीं माने जा सकते।

जानकारीशुदा सहमति इस अधिकार का अभिन्न अंग है। रामचंद्र रेड्डी बनाम महाराष्ट्र के प्रकरण में मुंबई हाईकोर्ट ने इस बात पर विचार किया था कि “क्या आरोपी को यह जांच करवाने को बाध्य करना, उसे स्वयं के विरुद्ध गवाही देने को बाध्य करने के बराबर होगा।” कोर्ट ने फैसला दिया था कि ऐसे बयान तभी अनुच्छेद 20 (3) के दायरे में आएंगे जब वे उस व्यक्ति को शक के दायरे में लाते हों। ऐसा है या नहीं, यह तो जांच करने के बाद ही तय किया जा सकेगा। कोर्ट ने यह भी कहा था कि दण्ड प्रक्रिया संहिता, भारतीय साक्ष्य कानून तथा संविधान में ऐसे पर्याप्त प्रावधान हैं कि नार्को जांच से प्राप्त ऐसे आरोपजनक बयानों को अदालत में दाखिल होने से रोका जा सके।

श्रीमती सेल्वी बनाम कर्नाटक में कर्नाटक हाई कोर्ट ने ‘बाध्यता’ का बहुत संकीर्ण अर्थ लिया था और कहा था कि व्यक्ति को जो थोड़ा-सा दर्द होता है वह इंजेक्शन लगाते समय होता है, इसलिए इसे ‘बाध्यता’ नहीं माना जा सकता। मुंबई हाई कोर्ट की तरह कर्नाटक हाई कोर्ट ने भी यही मत व्यक्त किया था कि नार्को

जांच से पहले तो यह नहीं बताया जा सकता कि व्यक्ति का बयान स्वयं के खिलाफ होगा या नहीं, इसलिए नार्को जांच के बारे संविधान के अनुच्छेद 20 (3) के तहत कोई भी फैसला देना ‘समयपूर्व’ होगा।

कुल मिलाकर सहमति से जुड़ी चिंताओं को ‘समयपूर्व’ बताकर कोर्ट यह समझ पाने में असमर्थ रहे कि दवाइयों के असर से उत्पन्न अर्ध-चेतन अवस्था में व्यक्ति द्वारा दिए गए अनैच्छिक बयान में कई पहलू समस्यामूलक हैं। सबसे चिंता की बात तो यह है कि कोर्ट ने नार्को जांच पर व्यक्ति की असहमति को कोई मुद्दा ही नहीं माना और इसे वैज्ञानिक या चिकित्सकीय प्रामाणिकता और दक्षता के बहाने टाल दिया।

तथ्य यह है कि इन्सानों पर की जाने वाली चिकित्सकीय प्रक्रियाओं व वैज्ञानिक परीक्षणों में भी व्यक्ति की सहमति अनिवार्य मानी जाती है। इस जांच की सही छवि यह है कि किसी अनिच्छुक व्यक्ति को बांधकर लिटाया गया है, वह चीख-चिल्ला रहा है और फिर एक इंजेक्शन के ज़रिए खून में बार्बिट्यूरेट पहुंचते ही वह शांत हो जाता है और दवा से उत्पन्न मूर्छा उसके प्रतिरोध पर हावी हो जाती है। व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध उसे दवा देना ‘बाध्यता’ की श्रेणी में आता है। ब्रिटिश कानून के शब्दकोश में बाध्यता को यों परिभाषित किया गया है “एक भौतिक वस्तुगत क्रिया, व्यक्ति के दिमाग की स्थिति नहीं, सिवाय उन मामलों में जब किन्हीं बाहरी प्रक्रियाओं के ज़रिए दिमाग को ऐसी हालत में ला दिया जाए जहां बयान देना अनैच्छिक हो जाए।”

यह सही है कि अदालतों के कुछ फैसलों में व्यक्ति को यह अधिकार दिया गया है कि वह आगे चलकर उस बयान की स्वीकृति को चुनौती दे सके मगर इससे कोई खास राहत नहीं मिलती। इसमें इस बात का कोई ध्यान नहीं रखा गया है कि निर्दोष व्यक्ति नार्को जांच के असर में स्वयं के विरुद्ध झूठा बयान

किसी अनिच्छुक व्यक्ति को बांधकर लिटाया गया है, वह चीख-चिल्ला रहा है और फिर एक इंजेक्शन के ज़रिए खून में बार्बिट्यूरेट पहुंचते ही वह शांत हो जाता है और दवा से उत्पन्न मूर्छा उसके प्रतिरोध पर हावी हो जाती है। व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध उसे दवा देना बाध्यता की श्रेणी में आता है।

देकर फंस सकता है। इसके अलावा उसे संविधान प्रदत्त यह सुरक्षा भी नहीं मिलेगी कि बयान देने की बाध्यता से मुक्ति का सम्बंध सिर्फ अदालत में नहीं बल्कि अदालत से बाहर प्राप्त किए जाने वाले बयानों से भी है।

यह तर्क भी गले नहीं उतरता कि कोई बयान व्यक्ति को फंसाने वाला होगा या नहीं, यह तो नार्को जांच के बाद ही पता चलेगा। यही तर्क उस व्यक्ति पर लागू नहीं किया जाता है जो दवाइयों के असर के बिना गवाही दे रहा है। ऐसी स्थिति में पुलिस मनमाने सवाल पूछ सकती है और व्यक्ति सोच समझकर उनका जवाब देने से इन्कार कर सकता है। 'सत्य आसव' देने के बाद यह आदान-प्रदान रासायनिक ढंग से परिवर्तित हो जाता है। अब वह व्यक्ति यह फैसला करने की क्षमता खो बैठता है कि उसकी कौन-सी बात उसे फंसा देगी। सच्चाई यह है कि कोई नहीं जानता कि बार्बिट्यूरेट्स देने के बाद व्यक्ति के मुंह से क्या-क्या निकलेगा। अदालतों को इस पर विचार करना चाहिए।

अंतिम समस्या यह है कि नार्को जांच के बाद प्राप्त प्रमाणों को सहायक तथ्यों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, हालांकि हो सकता है कि उसका पूरा बयान स्वीकार्य न हो। वकील श्रीराम लक्ष्मण का मत है कि यह खामोश रहने के अधिकार को कमजोर करने का घुमावदार तरीका है।

और यह भी हो सकता है कि नार्को जांच के परिणाम शायद कोर्ट में स्वीकार न किए जाएं मगर इन्हें मीडिया में उछाला जा सकता है। अब्दुल करीम तेलगी के संदर्भ में यही हुआ था और इन परिणामों ने उसके खिलाफ पूर्वाग्रह बनाने में मदद की थी।

किसी व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध उसे दिमाग की हालत बदलने वाली दवाइयां देना उसकी प्रायवेसी के अधिकार का उल्लंघन है और शायद स्वस्थ रहने के उसके अधिकार का भी।

इस मामले में गौरतलब है कि नार्को जांच में दी जाने वाली दवाइयां दुकानों पर सीधे बिकने वाली दवाइयां नहीं हैं। ये अत्यंत शक्तिशाली दवाइयां हैं। वास्तव में 'सत्य

आसव' में इस्तेमाल की जाने वाली एक आम दवाई - सोडियम पेंटाथॉल - वही रसायन है जिसका उपयोग यू.एस. में मृत्यु दण्ड से पहले व्यक्ति को कोमा जैसी हालत में पहुंचाने के लिए किया जाता है। इसलिए नार्को जांच के स्वास्थ्य सम्बंधी खतरों को नकारा नहीं जा सकता।

केरल हाई कोर्ट ने बार्बिट्यूरेट इंजेक्शन से होने वाले खतरों को कम आंकने के लिए उनकी तुलना स्वास्थ्य सम्बंधी प्रक्रियाओं से की है। यह तुलना सही नहीं है। मरीज़ जब किसी दवाई या सर्जरी का उपयोग करता है, तो वह स्वैच्छिक होता है तथा डॉक्टर का इरादा उसे स्वस्थ करने का होता है। ज़ाहिर है, यह बात उस स्थिति पर लागू नहीं की जा सकती जहां ये इंजेक्शन किसी तंदुरुस्त व्यक्ति को गैर-स्वास्थ्य कारण से दिए जाएं।

सही ढंग से किया जाए तो भी नार्को जांच से प्रायवेसी जुड़े कई मुद्दे उभरते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने माना है कि संविधान के अनुच्छेद 21 में प्रदत्त 'निजी स्वतंत्रता' में प्रायवेसी का अधिकार भी शामिल है।

नार्को जांच में अनुच्छेद 21 सम्बंधी चिंताएं इस अर्थ में उभरती हैं कि यह जांच शरीर व दिमाग में घुसपैठ करती है जो कि प्रायवेसी में अतिक्रमण है। यह जांच व्यक्ति की दिमागी प्रक्रियाओं पर सीधे असर डालती है और वह व्यक्ति प्रश्नों के जवाबों पर नियंत्रण खो देता है। यह खतरा भी है कि ऐसी अचेतन अवस्था में व्यक्ति कोई निजी जानकारी उजागर कर दे जो शायद उस तहकीकात से सम्बंध न रखती हो मगर व्यक्ति के लिए हानिकारक हो। हो सकता है कि उसका उसके परिवार या जीविका पर प्रतिकूल असर पड़े। इसलिए गोपनीयता तथा अन्य सुरक्षा उपाय करना ज़रूरी है क्योंकि राज्य द्वारा किसी व्यक्ति की प्रायवेसी का उल्लंघन 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के द्वारा ही किया जा सकता है। भारत में सुरक्षा के ऐसे कोई उपाय नहीं हैं। इसलिए नार्को जांच व्यक्ति की सहमति के बगैर उसकी प्रायवेसी में उल्लंघन है।

यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि कानून के

मुताबिक व्यक्ति द्वारा दवा के नशे में दिए गए बयान कोर्ट में मान्य नहीं होंगे क्योंकि उस व्यक्ति की प्रायवेसी का अतिक्रमण तो तभी हो जाएगा जब वह जानकारी उगल देगा।

इसी प्रकार से इसमें उन निर्दोष व्यक्तियों की सुरक्षा की भी कोई व्यवस्था नहीं है जिन्हें अंततः किसी आरोप का सामना नहीं करना है। उनकी प्रायवेसी के उल्लंघन को कैसे रोका जाएगा?

दुर्भाग्य की बात है कि रोजो जॉर्ज बनाम उप पुलिस अधीक्षक प्रकरण में केरल हाई कोर्ट ने फैसला दिया था कि 'नार्को जांच' व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित नहीं करती और यह व्यक्ति की प्रायवेसी में दखलंदाजी नहीं है। वैसे कोर्ट ने इस मत का ठोस आधार नहीं दिया था और मानसिक प्रायवेसी के उल्लंघन पर कुछ नहीं कहा था। कोर्ट ने मत व्यक्त किया था कि चूंकि दण्ड प्रक्रिया

संहिता ने व्यक्ति पर दायित्व आरोपित किया है कि वह अपराध के बारे में पुलिस को जानकारी दे, इसलिए ऐसी जानकारी को छिपाने के संदर्भ में प्रायवेसी का कोई अधिकार नहीं है। प्रायवेसी की प्रकृति को लेकर इस गलतफहमी पर चर्चा की आवश्यकता है। कोर्ट ने माना कि नार्को जांच एक बारीक छुरी है जिसकी मदद से आप उस मुकदमे से सम्बंधित जानकारी चुनकर हासिल कर सकते हैं। तथ्य यह है कि बार्बिट्युरेट्स के असर में व्यक्ति अप्रासंगिक व काल्पनिक बातें भी बताता है जो अत्यंत निजी प्रकृति की हो सकती है।

नार्को जांच प्रायः अनियंत्रित है और मानव अधिकारों के लिए खतरा है। अदालतों ने न सिर्फ व्यक्ति की पूर्व सहमति को गैर-ज़रूरी घोषित कर दिया है बल्कि उन्होंने इस जांच के संचालन के न्यायिक निरीक्षण से भी इन्कार कर दिया है। रोजो जॉर्ज मुकदमे में हाई कोर्ट ने फैसला दिया कि नार्को जांच के लिए न्यायिक मंजूरी की ज़रूरत नहीं है क्योंकि यह 'एक कारगर तहकीकात के लिए मान्य परीक्षण है।' सेल्वी मामले में कर्नाटक काई कोर्ट ने इस परीक्षण को प्रमाण जुटाने का ही एक अंग मानने की भूल की।

ऐसा लगता है कि अदालतें सरकार के इस तर्क की कायल हो गई हैं कि नार्को जांच वैज्ञानिक, विश्वसनीय, सुरक्षित और उपयोगी है। उन्होंने इस मामले की छानबीन नहीं की है। अदालतों ने 'वैज्ञानिक' वैधता को छलांग मारकर 'कानूनी' वैधता मान लिया है। यह तो माना जा सकता है कि शायद अदालतों को इस जांच की वैज्ञानिक बारीकियां न मालूम हों, मगर उन्हें यह तो देखना ही चाहिए कि भारतीय नागरिकों के बुनियादी अधिकार महफूज़ रहें। (स्रोत विशेष फीचर्स)

वर्ग पहेली 35 का हल

वि	स	र	ण		च	र	स
रे		द		ज	ठ	र	म
च		र		ल		क	व
क	ठ	फो	ड	वा			क्ष
		र्ड		हि		म	
अ				त	म	त	मा
ख	रों	च		रो		ग	मां
बा		प	रा	ग		ण	कि
र	म	ल			अ	ना	ग

स्रोत के ग्राहक बनें, बनाएं

वार्षिक 150 रुपए द्वैवार्षिक 275 रुपए त्रैवार्षिक 400 रुपए